रीतिकाव्य की मूल प्रवृत्तियां

रीतिकाल के अन्तर्गत राजाश्रित कवियों में से अधिकांश तथा जनकवियों में से कतिपय ऐसे थे जिन्होंने आत्म-प्रदर्शन की भावना अथवा काव्य-रसिक-समुदाय को काव्यांगों का सामान्य ज्ञान प्राप्त कराने के उद्देश्य से ब्रजभाषा में रीतिग्रन्थों का प्रणयन किया। अतएव इन कवियों की सबसे प्रमुख प्रवृत्ति रीति-निरूपण की ही थी। इसके साथ ही विलासी आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए चूंकि इन लोगों ने उनकी रुचि के अनुरूप सामान्यत: शृंगारिक रचनाएं कीं, अत: शृंगारिकता इन कवियों की मुख्य काव्य-प्रवृत्ति कही जा सकती है। इधर आश्रयदाताओं के दान, पराक्रम आदि का आलंकारिक वर्णन करने से जहां इन्हें धन-सम्मान मिलता था, वहां प्रबल धार्मिक संस्कारों के कारण भक्तिपरक रचनाएं करने से भी आत्मलाभ होता था। ऐसी दशा में राजप्रशस्ति और भक्ति भी इनकी कविता का अंग बनकर गौण प्रवृत्तियों के रूप में आयीं। दूसरी ओर इन लोगों के कटु-मधुर वैयक्तिक अनुभव भी समय-समय पर नीतिपरक रचनाओं के रूप में व्यक्त होते रहते थे। अत: नीति भी इनकी कविता का अंग कही जा सकती है। इस प्रकार कुल मिलाकर रीति-कवियों की प्रवृत्तियों को दो वर्गों में रखा जा सकता है :

१. मुख्य प्रवृत्तियां—(क) रीति-निरूपण और (ख) शृंगारिकता।

२. गौण प्रवृत्तियां—(क) राजप्रशस्ति (वीरकाव्य), (ख) भक्ति और (ग) नीति।

रीति-निरूपण : रीति-निरूपण की इस व्यापक प्रवृत्ति का अध्ययन करने पर इसके भीतर कतिपय अन्त:प्रवृत्तियां भी दृष्टिगत होती हैं। इनका विश्लेषण ग्रन्थकार की दृष्टि, काव्यांग-विवेचन तथा निरूपण-शैली के आधार पर पृथक्-पृथक् किया जा सकता है। इनमें ग्रन्थकारों की दृष्टि के आधार पर यदि अन्त:प्रवृत्तियों का अध्ययन करें तो कहना होगा कि इस युग में रीति-ग्रन्थों की रचना मुख्य रूप से तीन दृष्टियों से की गयी। इनमें प्रथम दृष्टि तो मात्र रीति-कर्म की है। इसके परिचायक वे ग्रन्थ हैं, जिनमें सामान्य रूप से काव्यांग-विशेष का परिचय कराना ही इनके रचयिताओं का उद्देश्य रहा है—अपने कवित्व का प्रदर्शन करना इनका उद्देश्य नहीं रहा। ऐसे ग्रन्थों में लक्षण के साथ उदाहरण या तो अन्य लोगों के काव्य से दिया गया है या फिर वह इतना संक्षिप्त रहा है कि उसमें कवित्व-जैसी बात नहीं रही। जसवन्तसिंह का 'भाषाभूषण', याकूब खां का 'रसभूषण' रसिक सुमति का 'अलंकारचन्द्रोदय', दलपतिराय वंशीधर का 'अलंकाररत्नाकर', गोविन्द का 'कर्णाभरण', दूलह का

'कविकुलकण्ठाभरण', रसरूप का 'तुलसीभूषण' आदि इसी प्रवृत्ति के परिचायक हैं। द्वितीय प्रवृत्ति में रीतिकर्म और कविकर्म का समान महत्त्व रहा है। इसके अन्तर्गत आनेवाले ग्रन्थों में लक्षण और उदाहरण—दोनों ही उनके रचयिताओं द्वारा रचित हैं तथा उदाहरणों में सरसता का विशेष ध्यान रखा गया है। चिन्तामणि, मतिराम, भूषण, देव, दास, कुलपति, श्रीपति, पद्माकर, ग्वाल आदि के रीतिनिरूपण विषयक ग्रन्थ इसी प्रकार के हैं। तृतीय प्रवृत्ति के अन्तर्गत लक्षणों को महत्त्व नहीं दिया गया—ग्रन्थकारों ने प्रायः सभी छन्दों की रचना काव्यशास्त्र के नियमों में बद्ध होकर करने पर भी लक्षणों के फेर में पड़ना उचित नहीं समझा। बिहारी, मतिराम, भूपति, चन्दन आदि की सतसइयां, नखशिख-वर्णन सम्बन्धी समस्त ग्रन्थ तथा विभिन्न कवियों द्वारा रचित स्फुट छन्द इस प्रवृत्ति के परिचायक हैं। इन ग्रन्थों की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि ये मुख्यतः शृंगारी हैं।

काव्यांग-विवेचन के आधार पर इस प्रवृत्ति की दो अन्तःप्रवृत्तियां कही जा सकती हैं—१. सर्वांग-विवेचन की, और २. विशिष्टांग-विवेचन की। इनमें सर्वांग-विवेचन की प्रवृत्ति के अन्तर्गत आनेवाले ग्रन्थों में सामान्य रूप से काव्य-लक्षण, काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन, काव्य-भेद, शब्द-शक्ति, काव्य की आत्मा (रस, ध्वनि), काव्य-गुण, काव्य-दोष, काव्य-रीति, अलंकार तथा छन्द का निरूपण किया गया है—कतिपय लोगों ने काव्यांगों का विवेचन एक ग्रन्थ में किया है और छन्द का पृथक् रूप से करने का प्रयत्न किया है। चिन्तामणि का 'कविकुलकल्पतरु', देव का 'शब्दरसायन', कुलपति का 'रसरहस्य', दास का 'काव्यनिर्णय', सोमनाथ का 'रसपीयूषनिधि', अमीरदास का 'सभामंडन', जनराज का 'कविता-रसविनोद' आदि इसी प्रवृत्ति के परिचायक ग्रन्थ हैं। विशिष्टांग-विवेचन की प्रवृत्ति के अन्तर्गत वे ग्रन्थ कहे जा सकते हैं, जिनमें उक्त काव्यांगों में से किसी एक अथवा दो या तीन को विवेचन का विषय बनाया गया है। ये विषय हैं—रस, अलंकार और छन्द। इन तीनों के विवेचन में सामान्य प्रवृत्ति तो यह रही है कि तीनों का पृथक्-पृथक् विवेचन एक ग्रन्थ में हो; किन्तु देव के 'भावविलास' और याकूब खां तथा राय शिवप्रसाद के 'रसभूषण' नामक ग्रन्थों में रस और अलंकार का विवेचन साथ-साथ किये जाने का प्रयत्न भी रहा है। रस-निरूपण ग्रन्थों में पुनः दो प्रवृत्तियां दृष्टिगत होती हैं। इनमें एक तो है रस की विभावादि सामग्री के निरूपण के उपरान्त उसके समस्त भेदों का सामान्य रूप से तथा शृंगार और उसके आलम्बन (नायक-नायिकाभेद) आदि का विशेष रूप से विवेचन करने की, और दूसरी है रसों में शिरोमणि शृंगार के विभावादि—विशेषतः नायक-नायिकाभेद के सविस्तार वर्णन के उपरान्त उसके भेदोपभेदों के वर्णन की। चिन्तामणि का 'रसविलास', तोष का 'सुधानिधि', सुखदेव मिश्र के 'रसरत्नाकर' और 'रसार्णव', रसलीन का 'रसप्रबोध', समनेस का 'रसिकविलास', उजियारे की 'रसचन्द्रिका', बेनी प्रबीन की 'नवरसतरंग', पद्माकर का 'जगद्विनोद', नवीन का 'रंगतरंग', ग्वाल का 'रसरंग', चन्द्रशेखर वाजपेयी का 'रसिकविनोद' आदि ग्रन्थ रस-निरूपण की प्रथम प्रवृत्ति के कहे जा सकते हैं; जबकि मतिराम के 'रसराज', देव के 'रसविलास', 'भवानीविलास', 'कुशलविलास' आदि; कृष्णभट्टदेव ऋषि की 'शृंगार-रसमाधुरी', शिवनाथ की 'रसदृष्टि', दास के 'शृंगारनिर्णय' आदि को दूसरी प्रवृत्ति के भीतर रखा जा सकता है। अलंकार-निरूपण की प्रवृत्ति के परिचायक ग्रन्थों में मतिराम के 'ललितललाम' और 'अलंकारपंचाशिका', भूषण का 'शिवराजभूषण', गोप के 'रामालंकार', 'रामचन्द्रभूषण' और 'रामचन्द्राभरण'; रसिक सुमति का 'अलंकारचन्द्रोदय', दलपतिराय का 'अलंकाररत्नाकर', रघुनाथ का 'रसिकमोहन', गोविन्द का 'कर्णाभरण', दूलह का

'कविकुलकण्ठाभरण', सेवादास का 'रघुनाथ अलंकार', रसरूप का 'तुलसीभूषण', पद्माकर का 'पद्माभरण', ग्वाल का 'अलंकार-भ्रमभंजन' आदि तथा छन्दोविवेचन की प्रवृत्ति के ग्रन्थों में मतिराम की 'वृत्तकौमुदी', भूषण का 'छन्दोहृदयप्रकाश', सुखदेव मिश्र का 'वृत्तविचार', माखन का 'श्रीनाथपिंगल छन्दविलास', दास का 'छन्दोर्णवपिंगल', दशरथ का 'वृत्तविचार', नन्दकिशोर का 'पिंगलप्रकाश' आदि उल्लेखनीय हैं।

विवेचन-शैली के आधार पर यदि प्रवृत्ति-विश्लेषण किया जाये, तो कहना होगा कि इस काल में रीति-निरूपण की मुख्य रूप से तीन शैलियां प्रचलित थीं। इनमें प्रथम तो काव्यप्रकाश-साहित्यदर्पण की शैली है जिसमें लक्षण-उदाहरणों के अतिरिक्त वृत्ति देकर विषयों को समझाने का प्रयत्न किया गया है। इसके अन्तर्गत चिन्तामणि के 'कविकुलकल्पतरु', देव के 'शब्दरसायन', कुलपति के 'रसरहस्य', दास के 'काव्यनिर्णय', प्रतापसाहि की 'व्यंग्यार्थकौमुदी' और 'काव्यविलास', ग्वाल के 'अलंकारभ्रमभंजन' आदि ग्रन्थों को लिया जा सकता है। इन ग्रन्थों के भीतर मम्मट-विश्वनाथ द्वारा दी गयी संस्कृत-गद्य की वृत्ति के समान ब्रजभाषा-गद्य की वृत्ति देकर विषय को यथावश्यकता समझाने का प्रयत्न किया गया है। दूसरी शैली चन्द्रालोक-कुवलयानन्द की संक्षिप्त शैली है। जसवन्तसिंह का 'भाषाभूषण', दूलह का 'कविकुलकण्ठाभरण', वैरीसाल का 'भाषाभरण', गोविन्द का 'कर्णाभरण', याकूब खां का 'रसभूषण', पद्माकर का 'पद्माभरण' आदि इसके परिचायक कहे जा सकते हैं। इनमें 'भाषाभूषण', 'कविकुलकण्ठाभरण' जैसे ग्रन्थों में एक ही छन्द में लक्षण और उदाहरण का एक-साथ निर्वाह करने के कारण इस शैली का पूरा अनुकरण कहा जा सकता है; जबकि 'कर्णाभरण', 'रसभूषण', 'पद्माभरण' जैसे ग्रन्थों में संक्षिप्तता के निर्वाह का प्रयत्न तो अवश्य रहा है पर इस शैली का पूर्ण अनुकरण नहीं हो पाया—प्राय: लक्षण और उदाहरण दोनों में पृथक्-पृथक् दिये गये हैं। तीसरी शैली भानुदत्त की 'रसमंजरी' की है, जिसमें लक्षण और सरस उदाहरण देकर विषय-निरूपण किया गया है। रीतिकवियों ने इसका निर्वाह केवल भानुदत्त के समान शृंगार रस और नायक-नायिकाभेद विवेचन के लिए ही नहीं किया; रस, अलंकार और छन्दों के विवेचन में भी किया है। उक्त दोनों शैलियों में आनेवाले ग्रन्थों को छोड़ शेष सभी ग्रन्थ इसी शैली में लिखे गये हैं।

रीति-निरूपण की समस्त अन्त:प्रवृत्तियों का अध्ययन करने पर इन सबके विषय में कतिपय सामान्य बातें कही जा सकती हैं। इनमें सबसे पहली तो यही है कि इस युग के समस्त रीतिकवियों ने अपने ग्रन्थों का निर्माण सामान्य पाठकों को काव्यशास्त्र का ज्ञान प्राप्त कराने के लिए किया है। अतएव सुबोधता, सुकण्ठता और सरसता का ध्यान रखते हुए ही इनमें संस्कृत-काव्यशास्त्र में प्रचलित विभिन्न शैलियों का अनुकरण किया गया है। इस सम्बन्ध में दूसरी ज्ञातव्य बात यह है कि रीति-निरूपण के लिए इस काव्य में सामान्यत: ध्वनि-परवर्ती परम्पराओं के उन्हीं संस्कृत-ग्रन्थों को आधार बनाया गया है जो विवेचन की व्यवस्था और सुबोधता के कारण एक प्रकार से पाठ्यग्रन्थ बन चुके थे। इनके भीतर दिये गये लक्षणों का ब्रजभाषा में अनुवाद करने का ही इन लोगों ने प्रयत्न किया है। इस प्रकार इन लोगों ने आचार्य-कर्म की अपेक्षा कवि-शिक्षक के कर्म का ही निर्वाह किया है और सीमाओं के रहते हुए भी कुल मिलाकर इस दिशा में इन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। तीसरे, विभिन्न काव्यांगों का मनोयोगपूर्वक निरूपण करते हुए भी ये लोग मूलत: रसवादी थे। इसीलिए इनकी रचनाओं में सिद्धान्त और व्यवहार दोनों की दृष्टि से रसवाद की ही स्थापना देखने को मिलती है।

शृंगारिकता : शृंगारिकता की प्रवृत्ति रीतिकवियों की कविता का प्राण है। रीति-निरूपण की प्रवृत्ति के समान इस प्रवृत्ति के भीतर यद्यपि स्वतन्त्र अन्तःप्रवृत्तियां तो विद्यमान नहीं, तथापि एक ओर से काव्यशास्त्रीय बन्धनों के निर्वाह के और दूसरी ओर से नैतिक बन्धनों की छूट तथा विलासी आश्रयदाताओं के प्रोत्साहन के कारण इस प्रवृत्ति ने जो स्वरूप प्राप्त किया, उसे इतर कवियों की शृंगारिक प्रवृत्ति से सहज ही पृथक् करके देखा जा सकता है। शास्त्रीय बन्धनों ने तो इसे इतना रूढ़ बना दिया है कि शृंगार के विभाव-पक्ष में नायक-नायिकाओं के प्रत्येक भेद तथा उद्दीपक सामग्री के प्रत्येक अंग, अनुभावों के विविध रूपों, प्रत्येक संचारी तथा संयोग के भीतर वर्णित हावादिकों और वियोग के भेदोपभेदों-सहित विभिन्न कामदशाओं सम्बन्धी रचनाओं के पृथक्-पृथक् वर्ग बनाये जा सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन विषयों में से प्रत्येक से सम्बद्ध बिम्बों का एक सांचा है, जिसमें से ढालकर उन्हें निकाला गया है—उनकी रेखाओं को विशिष्ट परिवेश से बाहर आने ही नहीं दिया गया। दूसरी ओर नैतिक बन्धनों की छूट तथा आश्रयदाताओं के प्रोत्साहन के कारण ये लोग अपनी कल्पना के पंख उतने अवश्य फैला सके हैं कि काव्यशास्त्रीय घेरे के भीतर भी बिम्बों की रेखाएं उभरकर अपने निर्माताओं की अभिरुचि और दृष्टि की व्यंजना के द्वारा उनकी इस प्रवृत्ति की सामान्य विशेषताओं को प्रकट कर गयी हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इन कवियों की शृंगार-भावना में दमन से उत्पन्न किसी प्रकार की मानसिक ग्रन्थियां न होकर शरीर-सुख की वह साधना है जिसमें विलास के समस्त उपकरणों के संग्रह की ओर ही व्यक्ति की दृष्टि केन्द्रित रहती है—प्रेम को अतीन्द्रिय रूप देने अथवा वासना के उन्नयन का प्रयत्न नहीं होता। यही कारण है कि संयोग के नग्न चित्रों तथा नायकों की धृष्टताओं के विभिन्न रूपों को प्रस्तुत करते समय इन्होंने किसी प्रकार का संकोच नहीं किया। क्योंकि इस प्रवृत्ति में विलासिता का प्राधान्य है, अतएव प्रेम-भावना में एकोन्मुखता का स्थान अनेकोन्मुखता ने कुछ इस प्रकार से ले लिया है कि कुण्ठारहित प्रेम की उन्मुक्तता रसिकता का रूप धारण कर गयी है। इसीलिए अनेक पत्नियों के बीच अकेला नायक किसी मानसिक तनाव का शिकार हुआ दृष्टिगत नहीं होता। निर्द्वन्द्व होकर भोग करने में ही वह अपने जीवन की सार्थकता समझता है—उसकी निर्द्वन्द्विता पत्नियों के आंसुओं से व्यक्त होनेवाली निराशा और पीड़ा को ग्रहण ही नहीं कर पाती। वास्तव में नारी के प्रति इन कवियों की दृष्टि सामन्तीय ही रही है। ये उसे पुरुष के समकक्ष समाज की चेतन इकाई अथवा पुरुष का अर्द्धांग न समझकर भोग्य सम्पत्ति के समान उसे भोग का मात्र उपकरण समझते हैं। इनके लिए उसकी समस्त चेष्टाएं चेतन प्राणी की काम-भावना की अभिव्यक्ति न होकर पुरुष की उपभोग्य वस्तु की श्री-वृद्धि मात्र हैं। इतना ही नहीं, यह मानते हुए भी कि नारी में पुरुष की अपेक्षा काम की मात्रा अधिक होती है, काम की अतृप्ति के कारण हुए उसके विरह तथा तज्जन्य व्याधियों के प्रति मानव-सुलभ सहानुभूति के स्थान पर इनमें उपेक्षा अथवा कौतूहल का भाव ही अधिक रहा है। कदाचित् इसीलिए इनकी विरहिणी नायिकाओं की कामदशाओं के बिम्ब या तो प्रभावहीन रहे हैं या फिर तमाशा बनकर रह गये हैं। इधर विलासिता की प्रधानता और सामन्तीय प्रभाव के कारण ही इन लोगों की सौन्दर्य-भावना भी विषयिगत न होकर विषयगत रही है—नारी के बाह्य रूप की परिचायक अंगों की बनावट में ही इनकी दृष्टि उलझी रही है, उसके आन्तरिक गुणों तक नहीं पहुंच पायी।

विलासितापूर्ण उन्मुक्त प्रेम की अभिव्यक्ति तथा नारी के प्रति सामन्तीय दृष्टि के होते हुए भी इस प्रवृत्ति में गार्हस्थिक प्रेम की व्यापक स्वीकृति देखने को मिलती है। "छोड़ि आपनो भौन तुम, भौन

कौन के जात'' अथवा ''ते धनि जे ब्रजराज लखें गृहकाज करें अरु लाज संभारें'' (मतिराम) द्वारा स्वकीया-प्रेम की जिस प्रकार स्थापना की गयी है, वह सामान्यत: इस प्रवृत्ति के प्रत्येक कवि की रचनाओं में देखने को मिलेगा—नायकों की रसिकता अपनी पत्नियों के साथ किये गये उचित-अनुचित प्रेम-व्यवहार से प्राय: बाहर नहीं जा पायी। इसमें सन्देह नहीं कि परकीया और सामान्या-प्रेम का वर्णन भी इन लोगों ने किया है, किन्तु ऐसा उन्हें अपने नायिकाभेद-विवेचन को पूर्ण बनाने के कारण ही करना पड़ा है—इसमें व्यापक रूप से इनकी प्रवृत्ति नहीं रही। ''पर रस चाहै परकिया, तजै आपु गुन गोत'' तथा ''प्रेमहीन त्रिय वेश्या है शृंगाराभास'' (देव) के द्वारा परकीया-प्रेम में मर्यादा हानि तथा सामान्या-प्रेम में अनौचित्य को जिस प्रकार से व्यक्त किया गया है, वह इसकी पुष्टि के लिए पर्याप्त है। इतना ही नहीं, सामान्या-प्रेम विषयक जितने भी छन्द इन लोगों ने रचे हैं उनमें प्रभाव-शक्ति इसीलिए नहीं आ पायी, क्योंकि इसमें इनका मनोयोग नहीं रहा। परकीया-प्रेम-वर्णन में ये लोग यद्यपि औत्कट्य एवं मार्मिकता का सन्निवेश कर गये हैं जिससे एतद्विषयक रचनाओं में मार्मिकता आ गयी है, तथापि उनका अन्तिम निष्कर्षात्मक प्रभाव यही रहा है कि ''कोऊ कितेक उपाय करो, कहुं होत हैं आपुने पीव पराये।'' (मतिराम)। इस प्रकार कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि रीतिकवियों की शृंगारिकता में सामान्य रूप से इन्द्रियदमनजन्य कुण्ठाहीनता, शारीरिक सुख की साधना, अनेकोन्मुख प्रेमजन्य विलासिता रूपलिप्सा, भोगेच्छा, नारी के प्रति सामन्तीय दृष्टि तथा गार्हस्थिकता के गुण-दोषों के रहते हुए भी ऐसी ताजगी है जो काव्यशास्त्रीय नियमों के घेरे में बन्द रहकर भी साधारण पाठक को एक क्षण के लिए आत्मविभोर कर सकती है।

इतर प्रवृत्तियां : जहां तक रीतिकाव्य में विद्यमान इतर प्रवृत्तियों का प्रश्न है, उनमें राजप्रशस्ति अथवा वीरकाव्य की प्रवृत्ति मूलत: अलंकार और छन्दोविवेचन के ग्रन्थों में ही देखने को मिलती है—रस-विवेचन के ग्रन्थों में यह ग्रन्थ-विशेष की भूमिका के रूप में अथवा वीर और रौद्र रसों के निरूपण के प्रसंग में ही देखी जा सकती है। इसका मुख्य विषय आश्रयदाताओं की दानवीरता अथवा युद्धवीरता ही रही है। किन्तु इनकी अभिव्यक्ति उनके दान अथवा पराक्रम के परिचायक व्यापारों के स्थान पर सामान्य रूप से दान की सामग्री की विपुलता तथा आश्रयदाताओं के आतंक एवं निर्बल और कायर शत्रुओं पर उनके प्रभाव के विविध वर्णनों द्वारा होने के कारण वैसा रसात्मक प्रभाव नहीं डाल पाती, जो वीर रस की रचनाएं छोड़कर जाती हैं। इनके अतिरिक्त आश्रयदाताओं में लोकमान्य गुणों का आरोप तथा उनके अत्यधिक वैभव का बखान भी अपने-आपमें झूठी प्रशस्ति का ही प्रभाव छोड़ता है—किसी प्रकार का श्रद्धा-भाव उत्पन्न करने में वह असमर्थ रहता है। अतएव कहा जा सकता है कि इनकी वीरकाव्य की प्रवृत्ति में अलंकारनिबद्ध राजविषयक रति का ही प्राधान्य है—उत्साह का प्राय: अभाव ही रहा है।

भक्ति की प्रवृत्ति रीतिग्रन्थों के मंगलाचरणों, ग्रन्थों की परिसमाप्ति पर आशीर्वचनों, भक्ति और शान्त रसों, निर्वेदादि संचारियों तथा अलंकार-विवेचन सम्बन्धी ग्रन्थों में दिये गये उदाहरणों में मिलती है। सामान्य रूप से विष्णु के राम और कृष्ण—इन दो अवतारी रूपों में विशेष आस्था रखते हुए भी ये लोग गणेश, शिव और शक्ति में भी वैसी ही श्रद्धा रखते थे। अत: कहा जा सकता है कि ये किसी विशिष्ट सम्प्रदाय के अनुयायी नहीं थे—ईश्वर की विभिन्न शक्तियों के रूप में आज साधारण आस्तिक हिन्दुओं में देवी-देवताओं के प्रति जो श्रद्धा और भक्ति का भाव रहता है, वही इनमें था। वास्तव में इस युग में भक्ति धार्मिकता की ही परिचायक नहीं थी, विलास-जर्जर दरबारी वातावरण के

बाहर विषय-वासनाजन्य-दु:खों से आकुल मन के लिए शरणभूमि भी थी। इसीलिए समय-समय पर रचित इन छन्दों में से अधिकांश में भक्त कवियों की तन्मयता का आभास होता है।

भक्ति यदि इन कवियों के आकुल मन के लिए शरणभूमि थी, तो नीति संघर्षमय दरबारी जीवन के घात-प्रतिघातों से उत्पन्न मानसिक द्वन्द्व के विरेचन के परिणामस्वरूप शान्ति का आधार थी। इसीलिए आत्मोपदेश और अन्योक्तिपरक छन्दों में इनके वैयक्तिक अनुभवों की छाप प्राय: देखने को मिलती है। अलंकारों, निर्वेदादि संचारियों आदि के विवेचन के प्रसंगों में उद्धृत ये नीतिपरक रचनाएं यद्यपि परिमाण में बहुत अधिक नहीं हैं, तथापि ऐसी प्रवृत्ति की परिचायक तो हैं ही जिसमें वैयक्तिक अनुभवों से उत्पन्न विवेक को विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। इस प्रकार गौण प्रवृत्तियों में राजप्रशस्ति की प्रवृत्ति शृंगारी प्रवृत्ति के समान उस युग के दरबारी जीवन में 'प्रवृत्ति' की परिचायक है, जबकि भक्ति और नीति की प्रवृत्तियां उससे निवृत्ति की। चूंकि प्रवृत्ति और निवृत्ति जीवन के परस्पर पूरक पक्ष हैं, अतएव इन प्रवृत्तियों को एक-दूसरी की पूरक कहा जा सकता है।

रीतिकवियों के वर्ग

रीति-निरूपण के आधार पर रीतिकवियों के मुख्यत: दो वर्ग किये जा सकते हैं—१. सर्वांग-निरूपक और २. विशिष्टांग-निरूपक। इनमें सर्वांग-निरूपक वे हैं, जिन्होंने काव्य के समस्त अंगों—काव्य-लक्षण, काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन, काव्य-भेद, काव्य की आत्मा (रस अथवा ध्वनि), शब्द-शक्ति, गुण, दोष, रीति, अलंकार और छन्द का विवेचन अपने ग्रन्थों में किया है। चिन्तामणि, कुलपति, सूरति मिश्र, श्रीपति, देव, दास, जनराज आदि ऐसे ही आचार्य हैं। इन्होंने एक अथवा अनेक ग्रन्थों के भीतर इन सभी अंगों का विवेचन किया है। विशिष्टांग-निरूपक आचार्यों ने काव्य के सभी अंगों को अपने विवेचन का विषय न बनाकर उसके तीन महत्त्वपूर्ण अंगों—रस, अलंकार और छन्द में से एक, दो अथवा तीनों का निरूपण एक अथवा अनेक ग्रन्थों में किया है। इनमें रस-निरूपण